

भाग एक



वर्तमान में
निहित शक्ति को प्राप्त करना

जब तुम्हारा बोध बहिर्मुखी होता है,
मन और संसार प्रकट होते हैं।
जब अंतर्मुखी होता है,
वह अपने स्रोत को पहचान जाता है
और वापस घर आकर अप्रकट में लीन हो जाता है।



सत् और साक्षात्कार

जन्म-मरण चक्र के अधीन असंख्य प्रकार के जीवन के परे एक जीवन है जो अनादि व सदैव है। कई लोग उसे ईश्वर नाम से पुकारते हैं; मैं ज्यादातर उसे सत् कहता हूँ। सत् शब्द कुछ भी स्पष्ट नहीं करता, लेकिन ईश्वर शब्द भी तो नहीं करता है। किन्तु सत् की एक उन्मुक्त धारणा होने की वजह से उसका महत्व बढ़ जाता है। वह अनन्त अदृश्य को एक सीमित सत्ता में नहीं बदल देता। उसका मानसिक चित्रण करना असम्भव है। कोई भी सत् को विशिष्ट रूप से प्राप्त करने का दावा नहीं कर सकता। वह तुम्हारी स्वयं की सत्ता है और वह तुम्हारी स्वयं की उपस्थिति के रूप में तुरन्त ही तुम्हारी पहुँच में है। यदि देखें तो शब्द सत् और सत् के अनुभव के बीच बहुत ही कम फ़ासला है।

सत् न केवल हर एक रूप के परे है, वह हर एक रूप के अन्तर में भी है। उसके अदृश्य व अविनाशी सत्व के रूप में उपस्थित है। इसका अर्थ यह है कि वह इस क्षण में तुम्हारे सच्चे स्वरूप, तुम्हारे अन्तरतम् के रूप में तुम्हें प्राप्त है।

परन्तु मन से उसे पकड़ने की कोशिश मत करो। उसे समझने की कोशिश न करो।

तुम उसे तभी जान पाओगे जब मन शान्त होगा। जब तुम उपस्थित होते हो, जब तुम्हारा ध्यान वर्तमान क्षण में प्रबल व पूर्णरूप से होता है, सत् को महसूस किया जा सकता है, किन्तु उसे मानसिक रूप से कभी भी नहीं समझा जा सकता।

सत् के बोध को पुनः प्राप्त करना और 'सिद्धिजन्य-भावना' की स्थिति में अवस्थित रहना, साक्षात्कार है।

'साक्षात्कार' शब्द को सुनते ही मन में कुछ दैवी काम कर पाने का विचार आता है और अहम् को इस धारणा को बनाये रखना अच्छा लगता है। परन्तु वास्तव में साक्षात्कार तुम्हारे स्वाभाविक स्वरूप का सत् से ऐक्य का अनुभव है। यह वह स्थिति है जिसमें तुम उस अपार व अविनाशी से जुड़ जाते हो जो विरोधाभासी ढंग से तुम ही हो, परन्तु जो तुमसे भी कहीं अधिक महान है। यह नाम और रूप के परे अपने सच्चे स्वरूप को खोज पाना है।

सम्बद्धता के इस भाव को अनुभव न कर पाने की अयोग्यता, स्वयं से व अपने चारों ओर के संसार से, अलग होने के भ्रम को जन्म देती है। तब तुम सोच-विचार कर या फिर बिन सोचे ही, स्वयं को एक अलग अपूर्ण अंश समझने लगते हो। भय उपजता है और अन्तर-बाह्य उलझनें मानो प्रतिमान बन जाती हैं।

अपनी सम्बद्धता के सच का अनुभव करने में जो सबसे बड़ी बाधा डालता है वह है तुम्हारी अपने मन से पहचान और यही पहचान विचार को विवशताकारी बना देती है। सोचना बन्द न कर पाना एक कष्टप्रद विपदा है। परन्तु हम यह नहीं देख-समझ पाते क्योंकि लगभग हर एक इससे ग्रस्त है और इसलिए इसे स्वाभाविक समझा जाता है। लगातार हो रहा मानसिक शोर तुम्हें अन्तर स्थिरता के उस लोक को नहीं ढूँढने देता जिसे सत् से अलग नहीं किया जा सकता। वह मन-निर्मित झूठे 'मैं' को रचता है और भय व पीड़ा का पर्दा डाल देता है।

मन से पहचान धारणाओं, चित्रों, शब्दों, निर्णयों और परिभाषाओं की अन्धकारमय धुँधले परदे को बनाता है और यह परदा सभी सच्चे रिश्तों को बनने से रोक देता है। यह तुम और तुम्हारे बीच, तुम और तुम्हारे साथी स्त्री-पुरुषों के बीच, तुम और प्रकृति के बीच, तुम्हारे और ईश्वर के बीच आता है। विचारों का यही पर्दा अलगाव के भ्रम को जन्म देता है, इस भ्रम को कि तुम हो और एक बिल्कुल अलग 'दूसरा' है। ऐसा होने पर तुम इस मूलभूत तथ्य को भूल जाते हो कि शारीरिक छवि और विलग रूप के स्तर के नीचे, तुम सभी चीजों के साथ एक हो।

अगर सही प्रयोग में लाया जाए तो मन एक बहुत ही उच्च कोटि का यन्त्र है। परन्तु उसका गलत प्रयोग करने पर वह विनाशकारी रूप ले लेता है। सही मायने में कहूँ तो, ऐसा नहीं है कि तुम मन का गलत इस्तेमाल करते हो — बस तुम उसका इस्तेमाल करते ही नहीं। वह तुम्हारा इस्तेमाल करता है। यह एक रोग है। तुम यह मानते हो कि तुम अपना मन हो। यह एक भ्रम है। यन्त्र ने तुम पर काबु पा लिया है।